

प्रेमचंद की कहानियों में बाल-चरित्र और तद्युगीन भारती समाज

शशि प्रभा

पूर्व-शोधार्थी, विश्वविद्यालय हिन्दी-विभाग, ल.ना.मिथिला विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर, दरभंगा, बिहार, भारत

सारांश

प्रेमचंद का संपूर्ण साहित्य तद्युगीन भारतीय समाज का जीवंत इतिहास है। उन्होंने अपनी रचनाओं में समाज का यथार्थ रखा है यँ तो उन्होंने समाज के सभी वर्गों-समुदायों को अपना पात्र बनाया पर उन्हें सर्वाधिक सफलता मिली है- 'बाल-चरित्र' के निर्माण में। प्रेमचंद ने अपनी कई कहानियों में बाल-पात्र को ही नायक बनाया है तथा उसी के माध्यम से अपने भाव को प्रकट किये हैं। प्रेमचंद की लगभग सभी कहानियों के बाल-चरित्र में प्रेमचंद के स्वयं का जीवन झलक मारता नजर आता है। उन्होंने जिस तरह के अभावों-विपन्नताओं को झेला था, उसका प्रत्यक्ष रूप उनके बाल-चरित्र में परिलक्षित होते हैं। उनके सभी बाल-चरित्र उस समय के समाज के अनुरूप सृजित हुए हैं। यही उनकी सबसे बड़ी रचनात्मक सफलता है।

मूल शब्द: प्रेमचंद, भारतीय, इतिहास, तद्युगीन

प्रस्तावना

किसी भी कहानी की सार्थकता की पड़ताल उसकी तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही की जा सकती है। अर्थात् तत्कालीन सामाजिक विसंगतियों और विडम्बनाओं को जाने बगैर कहानी के निमित्त को भी नहीं समझा जा सकता।

प्रेमचंद का जन्म 1880 में हुआ था। उस समय भारत अंग्रेजों का गुलाम था। एक तरफ अंग्रेजों का अत्याचार था, दूसरी तरफ सामन्तों का शोषण-दमन था। जनता दो 'पाटन' के बीच बुरी तरह पिस रही थी। इसके अलावा जनता के खून को चूसने की एक नयी शक्ति का भी उदय हो रहा था- वह थी पूँजीवादी सभ्यता। सामन्तवाद के गर्भ से जन्म लेने वाली इस पूँजीवादी सभ्यता को प्रेमचंद ने महाजनी सभ्यता का नाम दिया है। यह एक अलग किस्म की लम्पट और सर्वाधिक क्रूर सभ्यता थी। यह गरीब किसानों को कर्ज के महाजाल में फंसा कर पुश्त दर पुश्त खून चूसने का काम करती थी। यह दरअसल सामन्तवाद का ही नया संस्करण था। यह विदेशी लूट और सामन्ती शोषण से ज्यादा खतरनाक और जानलेवा था। प्रेमचंद ने समाज में तेजी से उभरने वाली इस घातक प्रवृत्ति को शिद्दत से पहचाना और इस पर निर्ममतापूर्वक चोट की। महाजनी सभ्यता के दलदल में बिलबिलाते किसानों की दुर्दशा को प्रेमचंद ने अपने उपन्यास 'गोदान' अथवा अपनी कहानी 'सवा सेर गेहूँ' में पूरी संवेदना के साथ दिखलाया है। गोदान का होरी वास्तव में कर्ज की मार से ही आहत होकर असमय ही मरता है। वैसे ही 'सवा सेर गेहूँ' का शंकर तो कर्ज के चक्रव्यूह में ऐसा फंसा है कि उसके बाद उसका बेटा और पोता तक उससे उबरने की राह नहीं तलाश पाता।

प्रेमचंद अपने समाज का वैज्ञानिक विश्लेषण तो कर ही रहे थे, साथ ही वह समाज में आ रहे बदलाव की आहट को भी साफ-साफ महसूस रहे थे। वह देख रहे थे कि यदि समाज में शोषण, अत्याचार और दमन है तो इन ताकतों के खिलाफ लड़ने के लिए नयी चेतना का उदय भी हो रहा है। लोगों में धीरे-धीरे जागृति आ रही है। नयी पीढ़ी सड़े-गले पुराने मूल्यों को नकारने की हिम्मत भी जुटा रही है। उनमें परतंत्रता की बेड़ी तोड़ने की जितनी बेचौनी है, उतना ही सामन्ती-पूँजीवादी शोषणतंत्र के खिलाफ उठ खड़ा होने का जज्बा भी है। जनता की इस

परिवर्तनकारी चेतना को प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य में जगह-जगह रेखांकित किया है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के साथ ही सामन्ती मूल्यों के खिलाफ प्रतिरोध में खड़े पात्रों की लम्बी सूची है। प्रेमचंद के कथा साहित्य में, 'प्रेमचंद हिन्दुस्तान की नयी राष्ट्रीय और जनवादी चेतना के प्रतिनिधि साहित्यकार थे। जब उन्होंने लिखना शुरू किया था, तब संसार पर पहले महायुद्ध के बादल मंडरा रहे थे। जब मौत ने उनके हाथ से कलम छीन ली, तब दूसरे महायुद्ध की तैयारियाँ चल रही थी। इस बीच विश्वमानव संस्कृति में बहुत से परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों से हिन्दुस्तान भी प्रभावित हुआ और उसने उन परिवर्तनों में सहायता भी की। विराट मानव संस्कृति की धारा में भारतीय संस्कृति की गंगा ने जो कुछ दिया, उसके प्रमाण प्रेमचंद के लगभग एक दर्जन उपन्यास और उनकी सैकड़ों कहानियाँ हैं।'⁽¹⁾

इस प्रकार प्रेमचंद के अन्दर के साहित्यकार का निर्माण एक तो उनके समय की पारिस्थितियाँ कर रही थीं, दूसरे उनकी अपनी जिंदगी थी। बचपन से लेकर मृत्युपर्यंत वह सतत् संघर्षों से ही गुजरते रहे। दरअसल उनका सारा कथा साहित्य उनके अपने जीवन संघर्षों और जीवनानुभावों का ही दस्तावेज है। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा ने सही ही रेखांकित किया है- "गोदान के किसी एक पात्र को प्रेमचंद का प्रतिनिधि नहीं का जा सकता, लेकिन अगर मेहता से होरी को जोड़ा जा सके तो जो व्यक्ति बनेगा, वह बहुत कुछ प्रेमचंद से मिलता-जुलता होगा। मेहता को यदि उन्होंने अपने विचार दिये हैं तो होरी को बराबर परिश्रम करते रहने की दृढ़ इच्छा-शक्ति, लेकिन और बातों में होरी प्रेमचंद से बहुत भिन्न है।"⁽²⁾

प्रेमचंद को बचपन में ही माँ की ममता से वंचित होना पड़ा, पिता का प्यार भी कभी कायदे से नसीब नहीं हुआ। सौतेली माँ के साये में सहम-सहम कर जीना पड़ा। शादी हुई तो पत्नी महाकुरूप और इच्छाओं के विपरीत साबित हुई। घर का वातावरण नाटकीय बना रहता था। असमय ही कंधे पर घर-गृहस्थी का बोझ आ गया। घनघोर अभावों के बीच पढ़ाई-लिखाई हुई। शिक्षा विभाग की नौकरी की मामूली आमदनी में सारे घर की गाड़ी खींचने में लगातार कर्ज में डूबे रहते। ऊपर से प्रेस और 'हंस' पत्रिका के संचालन में पूरी तरह से निचुड़ गये। असमय ही बीमारी का शिकार हुए और समुचित चिकित्सा

के अभाव में असमय ही काल-कवलित हो गये। प्रेमचन्द के जीवन की इन्हीं विडम्बनाओं को ध्यान में रखकर जब उनके कथा साहित्य का अध्ययन करेंगे तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रेमचन्द के अधिकतर कथा पात्र कमोबेश स्वयं प्रेमचन्द ही हैं। यह बात उनके कथा साहित्य के बालचरित्रों पर भी समानरूप से लागू होती है। कम से कम चार उपन्यासों में और लगभग एक दर्जन कहानियों के बालपात्रों में आसानी से प्रेमचन्द के अपने बचपन की झलक स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

मुंशी प्रेमचन्द का जन्म 31 जुलाई 1880 को वाराणसी के पास लमही नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम अजायब लाल था। प्रेमचन्द बचपन में खूब गोर-चिट्टे थे इसलिए पिता ने हुलस कर नाम धनपत रखा, जबकि ताऊ ने नवाब कह कर पुकारना शुरू किया। उनकी माँ आनन्दी अपनी दो बच्चियों को गंवा चुकी थी। तीन बहनों में से अब केवल एक बहन बच रही थी सुग्गी, जो प्रेमचन्द से छह-सात साल बड़ी थी। सबसे छोटे प्रेमचन्द थे। "सुग्गी को भी माँ कुछ कम प्यार नहीं करती थी, लेकिन नवाब में तो उसके प्राण ही बसते थे। कुछ तो शायद प्रतिरोध में खड़े पात्रों की लम्बी सूची है प्रेमचन्द के कथा साहित्य में, "प्रेमचन्द हिन्दुस्तान की नयी राष्ट्रीय और जनवादी चेतना के प्रतिनिधि साहित्यकार थे। जब उन्होंने लिखना शुरू किया था, तब संसार पर पहले महायुद्ध के बादल मंडरा रहे थे। जब मौत ने उनके हाथ से कलम छीन ली, तब दूसरे महायुद्ध की तैयारियाँ चल रही थी। इस बीच विश्वमानव संस्कृति में बहुत से परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों से हिन्दुस्तान भी प्रभावित हुआ और उसने उन परिवर्तनों में सहायता भी की। विराट मानव संस्कृति की धारा में भारतीय संस्कृति की गंगा ने जो कुछ दिया, उसके प्रमाण प्रेमचन्द के लगभग एक दर्जन उपन्यास और उनकी सैकड़ों कहानियाँ हैं।"⁽³⁾

प्रेमचन्द के इसी चरित्र के दर्शन हमें चोरी नामक कहानी में होते हैं। प्रेमचन्द गुल्लीडंडा खेलने में भी माहिर थे। "सुनते हैं उसका टोल अच्छी तरह जमकर बैठ जाता था तो गुल्ली डेढ़ सौ गज की खबर लेती थी।"⁽⁴⁾ गुल्ली-डंडा में प्रेमचन्द के महारत को उनकी कहानी 'गुल्ली-डंडा' में देखा जा सकता है।

मुंशी जी जब आठ साल के हुए तो उनकी पढ़ाई शुरू हुई। कायस्थ घरानों में उन दिनों उर्दू-फारसी पढ़ने का चलन था। अतः वह घर से सवा मील की दूरी पर पढ़ने जाया करते थे। वहाँ एक मौलवी साहब, जो पेशे से दर्जी भी थे- मदरसा लगाते थे। अपनी कहानी 'चोरी' में मुंशीजी ने उन पुराने दिनों की विशद चर्चा की है- "हाय बचपन! तेरी याद नहीं भूलती। वह कच्चा, टूटा घर, वह पुआल का बिछौना, वह नंगे बदन, नंगे पाँव खेतों में घूमना, आम के पेड़ों पर चढ़ना-सारी बात आँखों के सामने फिर रही है, चमरौधे जूते पहनकर उस वक्त जितनी खुशी होती थी, अब पलैक्स के जूते से भी नहीं होती। गरम पनुए रस में जो मजा था, वह अब गुलाब के शर्बत में भी नहीं, चबेने और कच्चे बेरों में जो रस था, वह अब अंगूर और खीरमोहन में भी नहीं मिलता।"

मैं अपने चचेरे भाई हलधर के साथ दूसरे गाँव में एक मौलवी साहब के यहाँ पढ़ने जाया करता था। मेरी उम्र आठ साल थी, हलधर मुझसे दो साल जेठ थे। हम दोनों प्रातःकाल बासी रोटी खा कर, दोपहर के लिए मटर और जौ का चबेना लेकर चल देते थे। फिर तो सारा दिन अपना था। मौलवी साहब के यहाँ कोई हाजिरी का रजिस्टर तो था नहीं और न गैरहाजिरी का जुर्माना ही देना पड़ता था। फिर डर किस बात का। कभी तो थाने के सामने खड़े सिपाहियों की कवायद देखते, कभी किसी भालू या बन्दर नचाने वाले मदारी के पीछे-पीछे घूमने में दिन काट देते, कभी रेलवे स्टेशन की ओर निकल जाते और गाड़ियों की बहार देखते। गाड़ियों के समय का जितना ज्ञान हमको था उतना शायद टाइम टेबिल को भी न था। रास्ते में शहर के एक

महाजन ने एक बाग लगवाना शुरू किया था, वहाँ एक कुआँ खुद रहा था। वह भी हमारे लिए दिलचस्प तमाशा था। बूढ़ा माली हमें अपनी झोपड़ी में बड़े प्रेम से बैठाता था। हम उससे झगड़-झगड़ कर उसका काम करते। कहीं बाल्टी लिये पौधों को सींच रहे हैं, कहीं खुरपी से क्यारियाँ गोड़ रहे हैं, कहीं कैंची से बेलों की पत्तियाँ छाँट रहे हैं, उन कामों में कितना आनंद था।

कभी-कभी हम हफ्तों गैर हाजिर रहते पर मौलवी साहब से ऐसा बहाना कर देते कि उनकी चढ़ी त्योंरियाँ उतर जातीं। उतनी कल्पना शक्ति आज होती तो ऐसा उपन्यास लिख मारता कि लोग चकित रह जाते। अब तो यह हाल है कि बहुत सिर खपाने के बाद कोई कहानी सूझती है। खैर, हमारे मौलवी साहब दर्जी थे। मौलवीगीरी केवल शौक से करते थे। हम दोनों भाई अपने गाँव के कुर्मी-कहारों से उनकी खूब बड़ाई करते थे या कहिये कि हम मौलवी साहब के सफरी एजेंट थे। हमारे उद्योग से जब मौलवी साहब को कुछ काम मिल जाता तो हम फूले न समाते। जिस दिन कोई अच्छा बहाना न सूझता, मौलवी साहब के लिए कोई न कोई सौगात ले जाते। कभी सेर-आध सेर फलियाँ तोड़ लीं, कभी दस-पाँच ऊख, कभी जौ या गेहूँ की हरी-हरी बालियाँ ले लीं। इन सौगातों को देखते ही मौलवी साहब का क्रोध शांत हो जाता। जब इन चीजों की फसल न होती तो सजा से बचने के लिए कोई और ही उपाय सोच लेते। मौलवी साहब को चिड़ियों का शौक था। मकतब में श्यामा, बुलबुल, दहियल और चण्डूलों के पिंजरे लटकते रहते थे। हमें सबक याद हो या न हो पर चिड़ियों को याद हो जाते थे। हमारे साथ ही वह भी पढ़ा करती थीं। इन चिड़ियों के लिए बेसन पीसने में हमलोग खूब उत्साह दिखाते थे। मौलवी साहब सब लड़कों को पतिंगे पकड़ने की ताकीद करते रहते थे। इन चिड़ियों को पतिंगों से विशेष रुचि थी। कभी-कभी हमारी बला पतिंगों के ही सिर चली जाती थी। उनका बलिदान करके हम मौलवी साहब के रौद्र रूप को प्रसन्न कर लिया करते थे।⁽⁵⁾

बचपन में प्रेमचन्द को गुड़ से बड़ा प्रेम था। वह मानते थे कि गुड़ मिठाइयों का राजा था। उन्हें भोजन में थोड़ा सा गुड़ जरूर चाहिए था। गुड़ का यह प्रेम जिंदगी भर रहा। गुड़ खाने के लिए वह क्या-क्या नहीं करते। यहाँ तक कि चोरी करने से भी बाज नहीं आते। गुड़ की इसी चोरी का किस्सा उन्होंने अपनी कहानी होली की छुट्टी में बड़े चाव से सुनाया है- "अम्मा तीन महीने के लिए अपने मैके या मेरी ननिहाल गयी थीं और मैंने तीन महीने में एक मन गुड़ का सफाया कर दिया। यही गुड़ के दिन थे। नाना बीमार थे, अम्मा को बुला भेजा था। मेरा इन्तिहान पास था, इसलिए मैं उनके साथ न जा सका...जाते वक्त उन्होंने एक मन गुड़ लेकर एक मटके में रखा और उसके मुँह पर एक सकोरा रख कर मिट्टी से बंद कर दिया। मुझे सख्त ताकीद कर दी कि मटका न खोलना। मेरे लिए थोड़ा सा गुड़ एक हांडी में रख दिया था। वह हांडी मैंने एक हफ्ते में सफाचट कर दी। सुबह को दूध के साथ गुड़, दोपहर को रोटियों के साथ गुड़, तीसरे पहर दानों के साथ गुड़, रात को फिर दूध के साथ गुड़। यहाँ तक जायज खर्च था, जिस पर अम्मा को भी कोई एतराज न हो सकता। मगर स्कूल से बार-बार पानी पीने के बहाने घर में आता और दो-एक पिण्डियाँ निकाल कर खा लेता। उसकी बजट में कहीं गुंजाइश थी। और मुझे गुड़ का कुछ ऐसा चस्का पड़ गया कि हर वक्त वही नशा सवार रहता। मेरा घर में आना गुड़ के सिर शामत आना था। एक हफ्ते में हांडी ने जवाब दे दिया। मगर मटका खोलने की सख्त मनाही थी और अम्मा के घर आने में अभी पौने तीन महीने बाकी थे। एक दिन तो मैंने बड़ी मुश्किल से जैसे-तैसे सब्र किया लेकिन दूसरे दिन एक आह के साथ सब्र जाता रहा। और मटके की एक मीठी चितवन के साथ होश रूखसत हो गया।

फिर तो इस दो अंगुल की जीभ ने क्या-क्या नाच नचाया है-

“अपने को कोसता, धिक्कारता—गुड़ तो खा रहे हो मगर बरसात में सारा शरीर सड़ जाएगा, गंधक का मलहम लगाये घूमोगे, कोई तुम्हारे पास बैठना भी न पसंद करेगा। कसमें खाता—विद्या की, माँ की, स्वर्गीय पिता की, गऊ की, ईश्वर की....।”⁽⁶⁾

नवाब जब आठवें साल में थे तभी उनकी माँ का देहांत हो गया। माँ के मरते ही जैसे उनकी दुनिया ही बदल गयी। अब उसे दुलारनेवाला कोई न रहा। उसकी सारी चंचलता जैसे लुप्त हो गयी। पिता अपनी नौकरी की चक्की में चौबीस घंटे ऐसे पिसते रहते कि चाह कर भी बेटे पर काफी ध्यान नहीं दे पाते। एक तो वे काम के बोझ से दबे रहते, ऊपर से हर साल, छह महीने पर उनका तबादला होता रहता। इस अस्थिरता से वह और भी परेशान रहते। बेटे को भी उन्हें थोड़ा वक्त देना चाहिए। प्यार करना चाहिए— इसके लिए उनके पास न तो समय था, न समझ थी। अपने बचपन की इसी वंचना और त्रासदी को प्रायः उन्होंने अपनी कहानी कजाकी के बालपात्र के माध्यम से व्यक्त किया है— “बाबूजी बड़े गुस्सेवर थे। उन्हें काम बहुत करना पड़ता था, इसी से बात—बात पर झुंझला पड़ते थे। मैं तो उनके सामने कभी आता ही नहीं था, वह भी मुझे कभी प्यार न करते थे। घर में वह केवल दो बार घंटे—घंटे भर के लिए भोजन करने आते थे, बाकी सारे दिन दफ्तर में लिखा करते थे। उन्होंने बार—बार एक सहकारी के लिए अफसरों से विनय की थी, पर इसका कुछ असर न हुआ था। यहाँ तक कि तातील के दिन में भी बाबूजी दफ्तर ही में रहते थे...बाबूजी मुझे प्यार तो न करते थे, पर पैसे खूब देते थे। शायद अपने काम में व्यस्त रहने के कारण, मुझसे पिण्ड छुड़ाने के लिए इसी नुस्खे को सबसे आसान समझते थे।”⁽⁷⁾

‘अलगयोझा’ कहानी में मातृ वंचना और सौतेली माँ के व्यवहार से उपजी मानसिकता को प्रेमचंद ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है— “भोला महतो ने पहली स्त्री के मर जाने के बाद दूसरी सगाई की तो उसके लड़के रघू के लिए बुरे दिन आ गये। रघू की उम्र उस समय केवल दस वर्ष की थी। चौन से गाँव में गुल्ली—डंडा खेलता फिरता था, माँ के आते ही चक्की में जुतना पड़ा। पन्ना रूपवती स्त्री थी और रूप और गर्व में चोली—दामन का नाता है। वह अपने हाथों से कोई मोटा काम न करती। गोबर रघू निकालता, बैलों को सानी रघू देता। रघू ही जूठे बरतन माँजता। भोला की आंखें कुछ ऐसी फिरीं कि उसे अब रघू में सब बुराइयाँ ही बुराइयाँ नजर आतीं। पन्ना की बातों को वह प्राचीन मर्यादानुसार आंखें बन्द करके मान लेता था। रघू की शिकायतों की जरा भी परवाह नहीं करता। नतीजा यह हुआ कि रघू ने शिकायत करना छोड़ दिया। किसके सामने रोये? बाप ही नहीं सारा गाँव उसका दुश्मन था। बड़ा जिद्दी लड़का है, पन्ना को तो कुछ समझता ही नहीं। बेचारी उसका दुलार करती है, खिलाती—पिलाती है। यह उसी का फल है। दूसरी औरत होती तो निबाह न होता। वह तो कहो, पन्ना इतनी सीधी—सादी है कि निबाह होता जाता है। सबल की शिकायतें सब सुनते हैं, निर्बल की फरियाद भी कोई नहीं सुनता। रघू का हृदय माँ की ओर से दिन—दिन फटता जाता था। यहाँ तक कि आठ साल गुजर गये।”⁽⁸⁾

‘दूध का दाम’ कहानी में माँ के मरने के बाद बच्चे की जिंदगी में कांटे ही कांटे बिछ जाते हैं। जिस जमींदार के नवजात बच्चे को उसकी माँ ने दूध पिलाया था वह जमींदार, उसका परिवार और यहाँ तक कि उसका बच्चा भी उसके साथ कुतों से भी बुरा बर्ताव करता है।

‘सौभाग्य के कोड़े’ का नथुवा भी अनाथ बालक है। उसके माता—पिता दोनों ही बचपन में मर चुके हैं। ऐसे बच्चे अक्सर बुरी संगत में पड़ जाते हैं। प्रेमचंद बताते हैं— “लड़के क्या अमीर के हों, क्या गरीब के, विनोदशील हुआ ही करते हैं। उनकी चंचलता बहुधा इनकी दशा और स्थिति की परवाह नहीं करती। नथुवा के माँ—बाप दोनों मर चुके थे, अनाथों की भांति वह राय भोलानाथ

के द्वार पर पड़ा रहता था। राय साहब दयाशील व्यक्ति थे। कभी—कभी एक—आध पैसा दे देते। खाने को भी घर में इतना जूठा बचता था कि ऐसे—ऐसे कई अनाथ अफर सकते थे। पहनने के लिए भी उनके लड़कों के उतारे मिल जाते थे। इसलिए नथुवा अनाथ होने पर भी दुखी नहीं था। नथुवा को बस रायसाहब के बंगले में झाड़ू लगा देने के सिवाय और कोई काम न था। भोजन करके खेलता फिरता था। कर्मानुसार ही उसकी वर्ग व्यवस्था भी हो गयी थी। घर के अन्य नौकर—चाकर उसे भंगी कहते थे और नथुवा को इसमें कोई एतराज न होता था। नाम का स्थिति पर क्या असर पड़ सकता है, इसकी उस गरीब को कोई खबर न थी। भंगी बनने में कुछ हानि भी न थी। उसे झाड़ू देते समय कभी पैसे पड़े मिल जाते, कभी और कोई चीज। इससे वह सिगरेट लिया करता था। नौकरों के साथ उठने—बठने से उसे बचपन ही में तम्बाकू, सिगरेट और पान खाने का चस्का पड़ गया।”⁽⁹⁾

प्रेमचंद को भी बचपन में माँ का आंचल छूटते ही तरह—तरह की आदतों और कुटेवों ने अपनी जद में ले लिया था। नथुवा के बहाने शायद उन्होंने अपने ही बचपन को याद किया है। अमृतराय कहते हैं— “बारह—तेरह बरस की उम्र तक पहुँचते—पहुँचते उसे सिगरेट—बीड़ी का चस्का लग चुका था और अपने ही शब्दों में ‘उन बातों का ज्ञान हो गया था जो कि बच्चों के लिए घातक है।’ बिना माँ के बच्चे का ऐसा ही हाल होता है। न हो तो अचरज की बात है। पता नहीं माँ का प्यार किस रहस्यपूर्ण ढंग से बच्चे का परिष्कार किया करता है। दोनों में से किसी को पता नहीं चलता पर वह छाया अपना काम करती रहती है। वह प्यार छिन जाये, सर पर से वह हाथ हट जाये तो एक ऐसी कमी महसूस होती है जो बच्चों को अंदर से तोड़ देती है और उसके साथ ही बहुत से साँचे, बहुत सी मूर्तियाँ टूट जाती हैं जिनको बनाने में बरसों लगे थे। यह कमी कितनी गहरी, कितनी तड़पाने वाली रही होगी जो सारी जिंदगी यह आदमी उससे उबर नहीं सका।”⁽¹⁰⁾

बचपन में कजाकी नाम का एक हरकारा प्रेमचंद की जिंदगी में आया। उसके साथ रिश्ता इतना प्रगाढ़ हो गया विह प्रेमचंद को अपने बच्चों की तरह लाड़—प्यार और दुलार देता था। उसकी याद को प्रेमचंद जिंदगी भर भुला नहीं पाये। ‘कल्प का मजदूर: प्रेमचंद’ नाम से प्रेमचंद की जीवनी लिखनेवाले श्री मदन गोपाले ने भी लिखा है कि “1886 में जब अजायब लाल जमानियाँ में नियुक्त थे, प्रेमचंद को कहानियाँ सुनाने वाला एक पासी हरकारा मिला। कई वर्षों बाद इसी हरकारे के नाम पर उन्होंने ‘कजाकी’ नामक कहानी लिखी।”⁽¹¹⁾ अपनी कहानी कजाकी में वह लिखते हैं— “मेरी बाल स्मृतियों में कजाकी एक न मिटनेवाला व्यक्ति है। आज चालीस साल गुजर गये। कहानी सन् 1926 में लमही में बैठकर लिखी जा रही है जब कि मुदरिसी के तेईस तूफानी सालों की बेतहासा भागमभाग के बाद लेखक उस जिंदगी को अलविदा कहकर फिर अपने बचपन के परिवेश में लौट आया है, कुछ सुस्ता रहा है और पुरानी स्मृतियाँ धीमी—धीमी बयार की तरह आकर उसको सहला रही हैं। लेकिन कजाकी की मूर्ति अभी तक आँखों के सामने नाच रही है। मैं उन दिनों अपने पिता के साथ आजमगढ़ की एक तहसील में था। कजाकी जात का पासी था, बड़ा ही हँसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही जिन्दादिल। वह रोज शाम को डाक का थैला लेकर आता, रातभर रहता और सबेरे डाक लेकर चला जाता। शाम को फिर उधर से डाक लेकर आ जाता। ज्योंहि चार बजते, मैं व्याकुल होकर सड़क पर आकर खड़ा हो जाता और थोड़ी देर में कजाकी कंधे पर बल्लम रखे, उसकी झुनझुनी बजाता, दूर से दौड़ता हुआ आता दिखलायी देता। वह साँवले रंग का गठीला, लम्बा जवान था। शरीर ऐसा साँचे में ढला हुआ कि चतुर मूर्तिकार भी उसमें कोई दोष न निकाल सकता था। उसकी छोटी—छोटी मूँछे उसके सुडौल चेहरे

पर बहुत ही अच्छी मालूम होती थीं। मुझे देखकर वह और तेज दौड़ने लगता, उसकी झुनझुनी और जोर से बजने लगती और मेरे हृदय में और जोर से खुशी की धड़कन होने लगती। हर्षातिरेक में मैं भी दौड़ पड़ता हूँ और एक क्षण में कजाकी का कन्धा मेरा सिंहासन बन जाता। संसार मेरी आँखों में तुच्छ हो जाता और जब कजाकी मुझे कंधे पर लिये हुये दौड़ने लगता, तब तो ऐसा मालूम होता मानो मैं हवा के घोड़े पर उड़ा जा रहा हूँ।”

थैला रखते ही वह हमलोगों को लेकर किसी मैदान में निकल जाता। कभी हमारे साथ खेलता, कभी बिरहे गाकर सुनाता और कभी कहानियाँ सुनाता। उसे चोरी और डाके, मारपीट, भूत-प्रेत की सैकड़ों कहानियाँ याद थीं। उसकी कहानियों के चोर-डाकू सच्चे योद्धा होते थे जो अमीरों को लूट कर दीन-दुखी प्राणियों का पालन करते थे।⁽¹²⁾

कजाकी कहानी में प्रेमचन्द ने अपनी ही जिंदगी की विडम्बना को बच्चे के मुँह से कहलवाया है— “बाबूजी बड़े गुस्सेवर थे। उन्हें काम बहुत करना पड़ता था, इसी से बात-बात पर झुंझला पड़ते थे। मैं तो उनके सामने कभी आता ही न था, वह भी मुझे कभी प्यार न करते थे। घर में वह केवल दो बार घंटे-घंटे भर के लिए भोजन करने आते थे, बाकी सारे दिन दफ्तर में लिखा करते थे। उन्होंने बार-बार एक सहकारी के लिए अफसरों से विनय की थी, पर इसका कुछ असर न हुआ था। यहाँ तक कि तातील के दिन भी बाबूजी दफ्तर ही में रहते थे। बाबूजी मुझे प्यार तो कभी न करते थे, पर पैसे खूब देते थे। शायद अपने काम में व्यस्त रहने के कारण, मुझसे पिण्ड छुड़ाने के लिए इसी नुस्खे को सबसे आसान समझते थे।”⁽¹³⁾

अमृतराय अपनी पुस्तक ‘प्रेमचन्द : कलम का सिपाही’ में प्रेमचन्द के बचपन का वर्णन इन शब्दों में करते हैं— “प्यार, दोस्ती, संग-साथ नवाब को जो कुछ मिलता अपनी माँ से मिलता, भले पैसे का नाम सुनते ही उनकी तयोरियाँ बदल जाती हों। सो माँ अब नहीं रही। माँ जैसा ही कुछ प्यार बड़ी बहन से मिलता था, वह अपने घर चली गयी। नवाब की दुनिया घर के नाते सूनी हो गयी। पिताजी का तो वही हाल था। थके-माँदे शाम को घर लौटते और बोतल लेकर बैठ जाते। पीते अपनी मात्रा भर ही थे, मगर हर शाम पीते थे। एक छोटी सी गिलसिया थी, वही उनका नपना था।”⁽¹⁴⁾

अपनी तमाम अवारगी, अकेलापन और अभावों के बावजूद एक बात प्रेमचन्द में बचपन से ही थी, और वह थी गरीबों, शोषितों और वंचितों के प्रति संवेदना और लगाव। यही कारण है कि अपनी सारी कहानियों और उपन्यासों में वह इसी शोषित वर्ग के पक्ष में खड़े रहे। यह प्रवृत्ति उनकी कहानी कजाकी में भी झलकती है, जब वह यह कहते हैं कि कजाकी की “कहानियों के चोर-डाकू सच्चे योद्धा होते थे जो अमीरों को लूटकर दीन-दुखी प्राणियों का पालन करते थे।”⁽¹⁵⁾

अमीरों के प्रति घृणा और विद्रोह, साथ ही दीन-दुखी प्राणियों के प्रति संवेदना की एक बानगी प्रेमचन्द की कहानी ‘रामलीला’ में स्पष्ट देखी जा सकती है— अपने बालजीवन के एक अनुभव के माध्यम से प्रेमचन्द बताते हैं— “इधर एक मुद्दत से रामलीला देखने नहीं गया। बन्दरों के भेदे चेहरे लगाये, आधी टांगों का पाजामा और काले रंग का ऊँचा कुर्ता पहने आदमियों को दौड़ाते, हू-हू करते देखकर अब हंसी आती है। लेकिन एक जमाता वह था जब मुझे भी रामलीला में आनंद आता था। आनंद तो बहुत हल्का शब्द है, उसे उन्माद कहना चाहिए। संयोगवश उन दिनों मेरे घर से बहुत थोड़ी दूरी पर रामलीला का मैदान था और जिस घर में लीला पात्रों का रूप-रंग भरा जाता था, वह तो मेरे घर से बिल्कुल मिला हुआ था। दो बजे दिन से पात्रों की सजावट होने लगती थी। उनकी देह में रामरज पीस कर पोती जाती, मुँह में पाउडर लगाया जाता और पाउडर के ऊपर लाल, हरे, नीले

रंग की बुंदकियाँ लगायी जातीं। सारा माथा, भवें, गाल, टोड़ी बुंदकियों से रच उठती थीं। एक ही आदमी इस काम में कुशल था। वही बारी-बारी से तीनों पात्रों का श्रृंगार करता था। रंग की प्यालियों में पानी लाना, रामरज पीसना, पंखा झलना मेरा काम था।

निषाद नौकालीला का दिन था। मैं दो बार लड़कों के बहकाने में आकर गुल्ली-डंडा खेलने लगा था, श्रृंगार देखने न गया। विमान भी निकला, पर मैंने खेलना न छोड़ा। मुझे अपना दांव लेना था। अपना दांव छोड़ने के लिए उससे कहीं बढ़कर आत्मत्याग की जरूरत थी जितना मैं कर सकता था। अगर दांव देना होता तो मैं कब का भाग खड़ा होता, लेकिन पदाने में कुछ और ही बात होती है। खैर दांव पूरा हुआ। अगर मैं चाहता तो धांधली करके दस-पाँच मिनट और पदा सकता था, इसकी काफी गुंजाइश थी, लेकिन अब इसका मौका न था। मैं सीधे नाले की तरफ दौड़ा। विमान जलतट पर पहुँच चुका था। मैंने दूर से देखा—मल्लाह किशती लिये जा रहा है। दौड़ा, लेकिन आदमियों की भीड़ में दौड़ना कठिन था। आखिर जब मैं भीड़ हटाता प्राणप्रण से आगे बढ़ता घाट पर पहुँचा तो निषाद अपनी नौका खोल चुका था। रामचन्द्र पर मेरी कितनी श्रद्धा थी। अपने पाठ की चिन्ता न करके उन्हें पढ़ा दिया करता था, जिसमें वह फेल न हो जाय छ मुझसे उम्र ज्यादा होने पर भी वह नीची कक्षा में पढ़ते थे। लेकिन वहीं रामचन्द्र नौका पर बैठे इस तरह मुँह फेरे चले जाते थे मानो मुझसे जान-पहचान ही न हो। नकल में भी असल की कुछ न कुछ बू आ ही जाती है।

रामलीला समाप्त हो गयी थी। राजगद्दी होने वाली थी। शायद चन्दा कम वसूल हुआ था। रामचन्द्र की इन दिनों कोई बात भी न पूछता था। न घर ही जाने की छुट्टी मिलती थी, न भोजन का ही प्रबन्ध होता था। चौधरी साहब के यहाँ से एक सीधा कोई तीन बजे दिन को मिलता था, बाकी सारे दिन कोई पानी को भी न पूछता। लेकिन मेरी श्रद्धा अभी ज्यों कि त्यों थी। मेरी दृष्टि में वे अब भी रामचन्द्र ही थे। घर पर मुझे खाने की कोई चीज मिलती, वह लेकर रामचन्द्र को दे आता। उन्हें खिलाने में मुझे जितना आनंद मिलता, उतना आप खा जाने में कभी न मिलता। कोई मिठाई या फल पाते ही बेतहासा चौपाल की ओर दौड़ता। चलते समय भी रामचन्द्र जी को कुछ नहीं मिला, जबकि आबादी जान तवायफ को खुदा जाने क्या-क्या मिला था। मेरे पास दो आने पैसे पड़े थे। मैंने पैसे उठा लिये और जाकर शरमाते-शरमाते रामचन्द्र को दे दिये। उन पैसे को देखकर रामचन्द्र को जितना हर्ष हुआ, वह मेरे लिए आशातीत था। टूट पड़े, मानो प्यासे को पानी मिल गया।

वही दो आने पैसे लेकर तीनों मूर्तियाँ विदा हुईं। केवल मैं ही उनके साथ कस्बे तक पहुँचाने आया।⁽¹⁶⁾

अपनी तमाम परेशानियों के बीच प्रेमचन्द में पढ़ने का जुनून था। गाँव की पढ़ाई तो जैसे-तैसे समाप्त हो गयी थी। अब आगे की पढ़ाई के लिए बनारस जाना आवश्यक था। मगर घर का हाल यह था कि पिता ने दूसरी शादी कर ली थी और उस पत्नी से भी अब दो-दो बच्चे हो चुके थे। स्वास्थ्य दिन ब दिन गिरता जा रहा था। घर की आर्थिक स्थिति चरमराती जा रही थी। ऐसे में नौवे दर्जे में नाम लिखाने के लिए जब बनारस जाना पड़ा था तो वहाँ जिन स्थितियों का सामना करना पड़ रहा था, प्रायः उन्हीं स्थितियों ने प्रेमचन्द को अकाल प्रौढ़ भी बना दिया था। बनारस में अपने जीवन का बयान इन शब्दों में किया है— “पाँव में जूते न थे। देह पर साबित कपड़े न थे। महंगी अलग-दस सेर के जौ थे। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्वीन्स कॉलेज में पढ़ता था। हेडमास्टर ने फीस माफ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था और मैं बाँस के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुँचना था। पढ़ाकर छह बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच मील

पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच सकता था। और प्रातः काल आठ ही बजे घर से फिर चलना पड़ता था, नहीं वक्त पर स्कूल न पहुँचता। रात को खाना खाकर कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता।”⁽¹⁷⁾

प्रेमचन्द के जमाने में बचपन में ही शादी का रिवाज था। प्रेमचन्द भी अब उस उम्र में पहुँच गये थे, जब शादी के जुए में उन्हें जोत दिया जाता। और वह जोत भी दिये गये। प्रेमचन्द की नयी माँ के पिता ने यह शादी तय की थी। और शादी भी कैसी तो एक दम से बेमेल। एक तो लड़की प्रेमचन्द से उम्र में बीस ठहरती थी। ऊपर से शक्त-सूरत से ऐसी कि देखते ही प्रेमचन्द को गहरा धक्का लगा। पत्नी की सूरत से नफरत हो गयी। एक तो भद्दी, थुलथुल और फूहड़ थी। ऊपर से चेहरे पर चेचक के गहरे दाग। एक टांग छोटी होने के कारण भचककर चलती थी। महीने में एक-दो बार भूत-प्रेत भी आते थे। शायद दिमाग में कुछ खलल थी। झगड़ालू परले दर्जे की थी। आये दिन सास-पतोहू में ठनी रहती थी। नतीजा हुआ यह कि प्रेमचन्द का अपनी पत्नी के साथ कभी निर्वाह नहीं हुआ, और अन्ततः उन्हें दूसरी शादी करनी पड़ी।

‘अलग्योझा’ कहानी में विपरीत मन-मिजाज की पत्नी के कारण घर में आये विघटन की बात हो या कर्मभूमि के अमरकांत की पत्नी का मामला हो या सेवासदन की सुमन की परिस्थितियाँ हो या निर्मला उपन्यास की नायिका निर्मला का दुखांत-सब जगह प्रेमचन्द के बचपन का यही अनमेल विवाह अलग-अलग रूपों में घूम-फिरकर आया जान पड़ता है। कहीं रंग-रूप और कद-काठी में पति-पत्नी के बीच साम्य नहीं है तो कहीं वैचारिक रूप से दोनों के बीच छत्तीस का आंकड़ा है।

पिता के देहांत के बाद लम्बे-चौड़े परिवार का भाड़ कच्ची उम्र में ही प्रेमचन्द के कंधे पर आ गया था। डा० रामविलास शर्मा कहते हैं- “इस जर्जर सामंती समाज में स्त्रियों की तरह लड़कों को भी स्वाधीनता नहीं है- यह तथ्य सबसे पहले प्रेमचन्द ने पेश किया।⁽¹⁸⁾

इस तथ्य को पेश करने के पीछे प्रेमचन्द का अपना जीवन अनुभव ही था। जो उम्र उनके खाने-खेलने की थी। उस उम्र में विवाह के बंधन में जकड़ दिया गया। फिर पिता के मरते ही सारे परिवार के भरण-पोषण की जिम्मेदारी सर पर आ गयी। उसी में अपनी पढ़ाई भी। पिता की मृत्यु के चलते पहली बार मैट्रिक की परीक्षा नहीं दे सके थे। अगली बार परीक्षा दी। ले देकर द्वितीय श्रेणी में पास कर सके। अब सवाल था आगे की पढ़ाई का। मगर पढ़ाई केलिए खर्चा कहां से जुटे? द्वितीय श्रेणी वालों को कॉलेज में पूरी फीस देनी पड़ती थी। केवल प्रथम श्रेणी वालों की फीस माफ की जाती थी। काफी मशक्कत के बाद भी कॉलेज में दाखिला नहीं मिला- क्योंकि गणित विषय बेहद कमजोर था। मगर गणित को सुधार कर कॉलेज में दाखिला लेने की धुन सवार थी। इसलिए शहर में ही रहने का फैसला लिया। “संयोग में एक वकील साहब के लड़के को पढ़ाने का काम मिल गया। पाँच रुपया वेतन ठहरा। मैंने दो रुपये में अपना गुजर करके तीन रुपये घर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी सी कच्ची कोठरी थी। उसी में रहने की आज्ञा ले ली। एक टाट का टुकड़ा बिछा दिया, बाजार से एक छोटा सा लैंप लाया और शहर में रहने लगा। घर से कुछ बर्तन भी लाया। एक वक्त खिचड़ी पका लेता और बर्तन धो-माँजकर लाइब्रेरी चला जाता। गणित तो बहाना था, उपन्यास आदि पढ़ा करता। पंडित रतननाथ दर का फसाना आजाद उन्हीं दिनों पढ़ा। चन्द्रकांता संतति भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू अनुवाद, जितने पुस्तकालय में मिले, पढ़ डाले।”⁽¹⁹⁾

कर्ज लेकर काम चलाने की आदत भी प्रेमचन्द को उसी दौर में पड़ी। कमाई गिनती की थी और खर्च अनगिनत। तभी अचानक स्कूल मास्टर की नौकरी मिल गयी। इस वाक्या को प्रेमचन्द ने

इन शब्दों में व्यक्त किया है- “जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का चबेना खाकर काटे थे। मेरे महाजन ने उधार देने से इन्कार कर दिया था या संकोचवश मैं उससे माँग न सका था। चिराग जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दुकान पर एक किताब बेचने गया। चक्रवर्ती गणित की कुंजी थी। दो साल हुए खरीदी थी। किताब दो रुपये की थी, लेकिन एक पर सौदा ठीक हुआ। मैं रुपया लेकर दुकान से उतरा ही था कि एक बड़ी-बड़ी मूँछोवाला सौम्य पुरुष ने मुझसे पूछा-कहाँ पढ़ते हो? सवाल पूछनेवाले सज्जन चुनार के एक छोटे से मिशन स्कूल के हेडमास्टर थे। उन्हें मैट्रिक पास एक मास्टर की तलाश की। वेतन था अठारह रुपया।”⁽²⁰⁾

निष्कर्ष

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्रेमचन्द के कथा साहित्य पर उनके तत्कालीन समाज की सारी विसंगतियाँ अपनी तमाम विद्वृपताओं के साथ स्पष्ट रूप से आयी हैं। साथ ही उनके कथा साहित्य के बाल चरित्रों पर उनके अपने बचपन के ही जीवनानुभव का प्रक्षेपण बार-बार और विभिन्न रूपों में हुआ है। प्रेमचन्द-साहित्य के गंभीर.....कमल किशोर गोयनका भी इसीलिए इस बात का बार-बार उल्लेख करते हैं कि बचपन में नटखट और खिलाड़ी बालक थे तथा गाँव की बाल-मंडली के तो वे सरताज थे। उनकी ‘चोरी’, ‘कजाकी’, ‘रामलीला’, ‘गुल्ली-डंडा’ आदि कहानियों में उनके बाल-जीवन की मर्मस्पर्शी एवं बाल सुलभ घटनाएँ मिलती हैं।

संदर्भ-संकेत

1. प्रेमचन्द और उनका युग, रामविलास शर्मा, पृ.-17
2. वही, पृ.-111
3. प्रेमचन्द और उनका युग, रामविलास शर्मा, पृ.-17
4. वही, पृ.-13
5. प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, अमृत राय, पृ.-14, 15, 16
6. प्रेमचन्द : कलम की सिपाही अमृत राय, पृ.-21
7. प्रेमचन्द : कलम का सिपाही अमृत राय, पृ.-22, 23
8. ‘अलग्यो झा’, प्रेमचन्द की सम्पूर्ण कहानियाँ-1, पृ.-01
9. प्रेमचन्द की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-1, सुमित्र प्रकाशन, पृ.-576-77
10. प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, अमृतराय, पृ.-24
11. ‘कलम का मजदूर : प्रेमचन्द’, मदन गोपाल, पृ.-19
12. प्रेमचन्द की सम्पूर्ण कहानिया : भाग-2, सुमित्र प्रकाशन, पृ.-92
13. प्रेमचन्द की सम्पूर्ण कहानियाँ : भाग-2, सुमित्र प्रकाशन, पृ.-94
14. प्रेमचन्द : कलम का सिपाही अमृत राय, पृ.-23
15. प्रेमचन्द की सम्पूर्ण कहानियाँ : भाग-2, सुमित्र प्रकाशन, पृ.-94
16. प्रेमचन्द की सम्पूर्ण कहानियाँ : भाग-2, सुमित्र प्रकाशन, पृ. 20-25
17. प्रेमचन्द : कलम का सिपाही अमृत राय, पृ.-31-32
18. प्रेमचन्द और उनका युग, रामविलास शर्मा, पृ.-64
19. प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, अमृत राय, पृ.-36
20. प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, अमृत राय, पृ. 37